



THE TIMES OF INDIA

Date: 11-01-19

China Is At A Crossroads

On 70th anniversary of PRC's founding, limits of its Party-led model are showing

Brahma Chellaney, [He is a geostrategist.]



Four decades ago the Chinese Communist Party, under its new paramount leader Deng Xiaoping, decided to subordinate ideology to wealth creation, spawning a new aphorism, "To get rich is glorious." The party's central committee, disavowing Mao Zedong's thought as dogma, embraced a principle that became Deng's oft-quoted dictum, "Seek truth from facts." Mao's death earlier in 1976 had triggered a vicious and protracted power struggle. When the diminutive Deng – once described by Mao as a "needle inside a ball of cotton" – finally emerged victorious at the age of 74, he hardly looked like an agent of reform. But having been purged twice from

the party during the Mao years, Deng seized the opportunity to usher in transformative change.

Deng's Four Modernisations programme spurred China's phenomenal economic rise. China's economy today is 30 times larger than it was three decades ago. Indeed, in terms of purchasing power parity, China's economy is already larger than America's. Yet, four decades after it initiated reform, China finds itself at the crossroads, with its future trajectory anything but certain. To be sure, when it celebrates later this year the 70th anniversary of its communist "revolution", China can truly be proud of its remarkable achievements. An impoverished, backward nation in 1949, it has risen dramatically and now commands respect and awe in the world.

China is today the world's largest, strongest and longest-surviving autocracy. This is a country increasingly oriented to the primacy of the Communist Party. But here's the paradox: The more it globalises while seeking to simultaneously insulate itself from liberalising influences, the more vulnerable it is becoming to unforeseen political "shocks" at home. Its overriding focus on domestic order explains one unusual but ominous fact: China's budget for internal security – now officially at \$196 billion – is larger than even its official military budget, which has grown rapidly to eclipse the defence spending of all other powers except the US.

China's increasingly repressive internal machinery, aided by a creeping Orwellian surveillance system, has fostered an overt state strategy to culturally smother ethnic minorities in their traditional homelands, including through demographic change and harsh policing. This, in turn, has led to the detention of a million or more Muslims from Xinjiang in internment camps for "re-education". Untrammelled repression, even if effective in achieving short-term objectives, could sow the seeds of violent insurgencies and upheavals.

More broadly, China's rulers, by showing as little regard for the rights of smaller countries as they do for their own citizens' rights, are driving instability in the vast Indo-Pacific region. Nothing better illustrates

China's muscular foreign policy riding roughshod over international norms than its South China Sea grab. It was exactly five years ago that Beijing began pushing its borders far out into international waters by pressing its first dredger into service for building artificial islands. The islands, created on top of shallow reefs, have now been turned into forward military bases.

The island building anniversary is as important as the 40th anniversary of economic reform because it is a reminder that China never abandoned its heavy reliance on raw power since the Mao era. In fact, no sooner had Deng embarked on reshaping China's economic trajectory than he set out to "teach a lesson" to Vietnam, in the style of Mao's 1962 military attack on India. A decade later, Deng brutally crushed a student-led, pro-democracy movement at home by ordering a tank and machine gun assault at Tiananmen Square. According to a British government estimate, at least 10,000 people were massacred. Yet, the US continued to aid China's economic modernisation, as it had done since 1979, when President Jimmy Carter sent a memo to various US government departments instructing them to help in China's economic rise. In the naive hope that a more prosperous China would liberalise economically and politically, that approach remained in effect until recent years.

But now a fundamental shift in America's China policy is underway, as illustrated by the trade war and Washington's newly unveiled "free and open Indo-Pacific" strategy. The tougher line towards China has also been highlighted by the enactment of two new US laws – the Reciprocal Access to Tibet Act in December and the Taiwan Travel Act in March. The evolving paradigm shift, with its broad bipartisan support, is set to outlast Donald Trump's presidency, underscoring new challenges for China at a time when its economy is already slowing and it has been compelled to tighten capital controls to prop up its fragile financial system and the yuan's international value.

Simply put, the international factors that aided China's rise are eroding. The changing international environment also holds important implications for China domestically, including the Communist Party monopoly on power. Xi Jinping, who in October 2017 ended the decades-old collective leadership system to crown himself China's new emperor, now no longer looks invincible. The juxtaposing of the twin anniversaries helps shine a spotlight on a fact obscured by China's economic success: Deng's refusal to truly liberalise China has imposed enduring costs on the country, which increasingly bends reality to the illusions that it propagates. The price being exacted for the failure to liberalise clouds China's future, heightening uncertainty in Asia.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 11-01-19

राहत का सिलसिला

संपादकीय

केंद्र और विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व वाली वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) परिषद ने गुरुवार को करदाताओं के लिए एक बार फिर नई राहतों की घोषणा की। इन घोषणाओं का सबसे अधिक लाभ सूक्ष्म, लघु और मझोले उद्यमों (एमएसएमई) को हुआ। जीएसटी परिषद ने इनके लिए जीएसटी रियायत की सीमा दोगुनी कर दी। अब 40 लाख रुपये तक के सालाना कारोबार वाली कंपनियों को जीएसटी चुकाने से राहत होगी। पूर्वोत्तर और पहाड़ी राज्यों के लिए यह

रियायत सीमा 10 लाख रुपये से बढ़ाकर 20 लाख रुपये कर दी गई है। परिषद ने कंपोजिशन योजना में भी अहम बदलाव किए हैं। इस योजना के तहत कारोबारियों को रियायती दर पर कर चुकाने की छूट होती है और जीएसटी का अनुपालन आसान होता है। परिषद ने यह तय किया है कि कंपोजिशन योजना की सीमा अब एक करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1.5 करोड़ रुपये होगी। इसके अलावा परिषद ने सेवा क्षेत्र के लिए भी कंपोजिशन योजना पेश की है। अब तक छोटे सेवा प्रदाता कंपोजिशन योजना का लाभ नहीं ले पाते थे। अब 50 लाख रुपये तक के सालाना कारोबार वाले कारोबारी कंपोजिशन योजना का विकल्प अपना सकते हैं और 6 फीसदी की कंपोजिशन दर चुका सकते हैं। यह दर 50 लाख की सीमा वाले कारोबारियों द्वारा चुकाए जाने वाली औसत दर से कम है। परिषद ने केरल को अधिकतम दो वर्ष तक अंतरराज्यीय बिक्री पर एक फीसदी का आपदा कर लगाने की अनुमति दी है लेकिन कुछ अन्य विवादित मुद्दों को उसने दो मंत्री समूहों के पास स्थानांतरित कर दिया।

एमएसएमई को दी गई राहत स्वागतयोग्य है क्योंकि यह क्षेत्र नवंबर 2016 की नोटबंदी और जुलाई 2017 में जीएसटी के हड़बड़ी भरे क्रियान्वयन के दोहरे असर से जूझता रहा है। राहत की एक और बात यह है कि जीएसटी परिषद ने फिसलते राजस्व संग्रह की चिंताओं के बीच उचित संतुलन कायम किया है। निश्चित तौर पर 40 लाख रुपये की रियायत सीमा 75 लाख रुपये की मांग से करीब आधी है। इतना ही नहीं जीएसटी परिषद ने यह भी स्पष्ट किया है कि इनमें से अधिकांश रियायतें 1 अप्रैल से यानी अगले वित्त वर्ष से लागू होंगी। इस प्रकार इस वर्ष राजस्व संग्रह में किसी भी प्रकार की कमी को टाल दिया गया है।

इस मोड़ पर आने के बाद जीएसटी परिषद को दरों के साथ छेड़छाड़ बंद कर देनी चाहिए और हालात को स्वयं संभलने का अवसर देना चाहिए। रियायत और अन्य राहतों के रूप में बार-बार हस्तक्षेप करने से भ्रम की स्थिति पैदा हो सकती है। बेहतर यही होगा कि पेट्रोलियम, बिजली शुल्क और अचल संपत्ति क्षेत्र को जीएसटी के दायरे में लाकर वास्तविक सुधार लागू करने चाहिए। इससे ढेर सारे करों का बोझ कम होगा, पारदर्शिता बढ़ेगी और कर दायरा भी बढ़ेगा। सीमेंट जैसी वस्तु को 28 फीसदी की दर वाले दायरे में रखना भी समझ से परे है।

जीएसटी इनपुट टैक्स क्रेडिट के मामलों में धोखाधड़ी और कर वंचना के मामलों को लेकर भी चिंता लगातार बढ़ रही है। उदाहरण के लिए सरकार के मुताबिक बीते एक वर्ष के दौरान अनुपालन में लगातार कमी आती प्रतीत हुई है। नवंबर 2018 में 29 फीसदी नियमित करदाताओं ने रिटर्न दाखिल नहीं किया। निश्चित तौर पर चालू वित्त वर्ष के दौरान मासिक जीएसटी संग्रह बजट में उल्लिखित लक्ष्य से मासिक तौर पर करीब 15,000 करोड़ रुपये पीछे चल रहा है। जीएसटी परिषद को अब इन मुद्दों पर कहीं अधिक ध्यान केंद्रित करना चाहिए। तभी यह प्रक्रिया सहजता से चल सकेगी और हम अधिक राजस्व जुटाने में सफल सिद्ध हो सकेंगे।

Date: 11-01-19

सहज बोध पर हावी हैं हड़बड़ी और सांठगांठ

एमएसएमई को राहत पैकेज मिला और अब आरबीआई के आरक्षित भंडार से भारी मात्रा में नकदी चुनाव पूर्व जारी की जाने वाली योजनाओं में लगाई जा सकती है।

देवाशिस बसु

क्या आपने कभी सोचा है कि हमारी आंखों के सामने जब हमारे नेता और बाबू पुरातनपंथी नीतियां लागू करते हैं तो कैसा लगता है? हाल के दिनों में वित्तीय क्षेत्र में जो कुछ घटा है वह इसी बात की बानगी है। बीते दो महीनों के दौरान जो नीतिगत निर्णय लिए गए हैं उन्होंने सरकार को यह मौका दिया है कि वह सरकारी बैंकों के मामले में यथास्थिति बरकरार रख सके। ये वही सरकारी बैंक हैं जिनके फंसे हुए कर्ज में आम करदाताओं का धन बड़ी मात्रा में डूब गया है। इतना ही नहीं इसकी बदौलत सांठगांठ वाले पूंजीपति अत्यधिक समृद्ध भी हो गए हैं।

इसकी शुरुआत वर्ष 2017 में हुई थी लेकिन वास्तविक कदम 2018 की तीसरी तिमाही में देखने को मिला जब भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) और सरकार के बीच दो मसलों पर विवाद गंभीर हो गया। पहला, सरकार आरबीआई के नकदी भंडार का एक बड़ा हिस्सा अपने लिए चाह रही थी और दूसरा शीघ्र सुधारात्मक उपाय (पीसीए) के मानकों को शिथिल करने को कहा जा रहा था। ये मानक कुछ बेहद खराब प्रदर्शन करने वाले सरकारी बैंकों पर लगाए गए थे ताकि वे दोबारा ऋण देने लायक बन सकें। इस बीच कई सरकारी बैंक तो ऐसे थे जहां कोई मुखिया ही नहीं था।

सितंबर 2018 में इन्फ्रास्ट्रक्चर लीजिंग एंड फाइनेंशियल सर्विसेज (आईएलएंडएफएस) डिफॉल्ट कर गई। इससे तमाम गैर बैंकिंग वित्तीय कंपनियों (एनबीएफसी) को लेकर भरोसे का संकट उत्पन्न हो गया। इन कंपनियों ने मदद की गुजारिश के साथ वित्त मंत्रालय की शरण ली। अब सरकार की ओर से आरबीआई के पास तीसरी मांग आई- इन एनबीएफसी की मदद के लिए और अधिक नकदी उपलब्ध कराने की मांग। इसके अलावा अगस्त में जब स्वदेशी जागरण मंच के विचारक गुरुमूर्ति आरबीआई के बोर्ड में शामिल हुए तो उन्होंने नीतिगत एजेंडे को लेकर अपनी निजी मांगें रखनी शुरू कर दीं। उन्होंने कहा कि सूक्ष्म, मझोले और लघु उद्यमों (एमएसएमई) को उबारने के लिए प्रोत्साहन पैकेज दिए जाएं। उपरोक्त चारों विचार पूरी तरह पिछली सरकारों की तरह ही उपयोगिता और सांठगांठ से जुड़े हुए थे।

परंतु आंकड़े बताते हैं कि इनमें से किसी उपाय की कोई आवश्यकता नहीं थी इसलिए जाहिर तौर पर सरकार की राह भी आसान नहीं थी। ये मांगें विशुद्ध रूप से राजनीतिक थीं और इनसे अर्थव्यवस्था को कोई खास लाभ नहीं होना था। बल्कि लंबी अवधि के दौरान इसका नकारात्मक प्रभाव ही पड़ना था। ऐसे में 26 अक्टूबर को आरबीआई के डिप्टी गवर्नर विरल आचार्य ने एक भाषण के दौरान चेतावनी दे डाली कि जो सरकारें केंद्रीय बैंक की स्वायत्तता का सम्मान नहीं करती हैं वे आज नहीं तो कल वित्तीय बाजारों का संकट पैदा करती हैं, आर्थिक मोर्चे पर आग भड़कने की वजह बनती हैं और आखिर में उन्हें पछताना पड़ता है कि उन्होंने एक अहम नियामक संस्थान की स्वायत्तता को सीमित किया। तीन दिन बाद आरबीआई के एक अन्य डिप्टी गवर्नर एन एस विश्वनाथन ने कह दिया कि बैंकों का काम कठिन समय में

कर्जदारों को उबारना नहीं है, उनकी प्राथमिक प्रतिबद्धता जमाकर्ताओं के प्रति होनी चाहिए। यह बात सीधे तौर पर सरकार की इस मांग पर चोट थी कि आरबीआई सरकारी बैंकों और एनबीएफसी के प्रति नरम बनी रहे।

नीति निर्माण से जुड़ा एक सामान्य सबक देते हुए विश्वनाथन ने कहा, 'बैंकों को कर्जदारों की कठिनाई के वक्त झटका सहने वाले जरिये के रूप में नहीं बरता जाना चाहिए क्योंकि उनके पास यह सुविधा नहीं होती कि वे अपने जमाकर्ताओं का भुगतान टाल दें।' पीसीए को शिथिल करने के मामले में उन्होंने कहा, 'ढांचागत सुधारों के स्थान पर नियामकीय शिथिलताओं को अपनाना, अर्थव्यवस्था के हित के लिए घातक हो सकता है।' परंतु देश की मजबूत 'राष्ट्रवादी सरकार' का इरादा अलग ही था। दबाव बनाए रखते हुए वित्त मंत्रालय के अधिकारियों ने खुलकर आरबीआई की आलोचना की और वे केंद्रीय बैंक के खिलाफ अपनी शक्तियों का प्रयोग करने को भी तैयार दिखे।

मीडिया में आई खबरों के मुताबिक नवंबर के मध्य में प्रधानमंत्री ने आरबीआई के तत्कालीन गवर्नर ऊर्जित पटेल से मुलाकात की और मामले को समझने का प्रयास किया। इसके बाद विधानसभा चुनाव नतीजों के एक दिन पहले पटेल ने त्यागपत्र दे दिया। एक दिन बाद ही शक्तिकांत दास को आरबीआई का गवर्नर बना दिया गया जो 'वित्त मंत्रालय के आदमी' हैं। इसके तत्काल बाद पीसीए के कड़े मानक निलंबित किए गए, एमएसएमई को राहत पैकेज दिया गया और चुनाव के पहले योजनाओं में इस्तेमाल के लिए आरबीआई के भंडार से बड़ी मात्रा में नकदी निकालने की योजना तैयार की गई। नेताओं के समर्थन से अधिकारियों ने इस तमाम कवायद को अंजाम दिया।

सरकार ने कुछ एनबीएफसी के कारण खड़े संकट को भी थामने का प्रयास किया। बीते कुछ वर्षों में एनबीएफसी बाजार चर्चा में रहा है क्योंकि वे अल्पावधि में अधिक ऋण देकर लंबे समय के लिए उसे उधारी दे रही थीं। इससे उनके कारोबार में जबरदस्त प्रगति नजर आ रही थी और खूब पैसा एकत्रित हो रहा था। इनमें से अधिकांश के पास मजबूत जोखिम प्रबंधन और विविधतापूर्ण पोर्टफोलियो था। परंतु कुछ बड़ी एनबीएफसी ने बिना आधार वाली अचल संपत्ति कंपनियों को जमकर ऋण दिया। ये परिसंपत्तियां चुनिंदा मित्रवत निजी कंपनियों की बदौलत अच्छी नजर आ रही थीं।

आईएलएंडएफएस संकट के विस्तार के साथ ही इस पर विराम लग गया और ये कंपनियां गहरे संकट में आ गईं। वे बचाव के लिए नकदी चाहती थीं लेकिन पटेल के नेतृत्व में आरबीआई इसके लिए तैयार नहीं था। आमतौर पर कारोबारियों के साथ कम ही दिखने वाले प्रधानमंत्री बुधवार 26 दिसंबर को कुछ घबराए एनबीएफसी कारोबारियों से मिले। यह इस बात का संकेत था कि आरबीआई को उनकी मदद करनी होगी। नए गवर्नर के अधीन आरबीआई इसके लिए तैयार हो गया। बहुत संभव है कि अप्रत्याशित परिस्थितियों में किसी खास क्षेत्र को सहायता की आवश्यकता पड़े लेकिन यहां मामला ऐसा नहीं था। अधिकांश एनबीएफसी को मदद की आवश्यकता नहीं थी। कुछ खराब एनबीएफसी ने अपने लिए समस्या खड़ी कर ली थी क्योंकि वे किसी भी कीमत पर अपना विकास चाहती थीं। उनको प्रतिस्पर्धा का सामना करने देने के बजाय सरकार ने हमेशा उन्हें उबारा।

**दैनिक भास्कर**

Date: 11-01-19

न्यायपालिका ही नहीं, जनता के विवेक की भी परीक्षा

संपादकीय

अयोध्या मामला सिर्फ न्यायपालिका ही नहीं जनता के विवेक की भी परीक्षा है। इसलिए सुनवाई टलने पर न तो खुशी मनाने की जरूरत है और न ही दुखी होने की। अगर भारत के राजनेताओं में समन्वय और समाधान की बुद्धि होती और भारत के धर्माचार्यों में सद्भाव की समझ होती तो न तो यह मामला इतने लंबे समय तक खिंचता और न ही इस पर इतना विवाद और तनाव होता। सुनवाई शुरू होने के साथ मुस्लिम पक्ष के वकील राजीव धवन ने उचित आपत्ति उठाई और अच्छा हुआ कि न्यायमूर्ति यूयू ललित ने उस इशारे को समझकर अपने को उस संविधान पीठ से अलग कर लिया। धवन ने याद दिलाया था कि जस्टिस यूयू ललित इससे पहले बाबरी मस्जिद विध्वंस के आरोपी कल्याण सिंह के वकील रह चुके थे। अब 29 जनवरी को इस मामले की अगली सुनवाई होगी और तब तक नई बेंच बन जाएगी। बेंच के साथ एक और आपत्ति ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड से जुड़े जफरयाब जिलानी ने उसमें किसी मुस्लिम जज के न होने की उठाई थी लेकिन, उसे बोर्ड के पदाधिकारियों ने खारिज कर कहा था कि उन्हें न्यायपालिका पर पूरा विश्वास है। इसलिए पीठ के सदस्यों के बारे में अब कोई आपत्ति नहीं आनी चाहिए।

एक और आपत्ति हिंदू महासभा की ओर से आई है। अदालत में हजारों पेज के दस्तावेजों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। महासभा चाहती है कि अदालत देख ले कि अनुवाद ठीक से हुए हैं या नहीं। हजारों पेज के दस्तावेज अरबी, फारसी, संस्कृत, उर्दू और गुरुमुखी में हैं। मुकदमा शुरू होने में जो देरी हुई है उसमें इनके अनुवाद का समय काफी कुछ जिम्मेदार है। निश्चित तौर पर यह इस देश का सबसे बड़ा मुकदमा है और संयोग से इसे भगवान राम और लोकतांत्रिक राजनीति से जोड़कर उसमें उलझन और चुनौती पैदा कर दी गई है। फैसला जो भी हो इससे राम की स्थिति पर नहीं उनके भक्तों की स्थिति पर ही फर्क पड़ेगा। इस मामले की सुनवाई को जिस तरह 2019 के चुनाव से जोड़ दिया गया है वह भी दुर्भाग्यपूर्ण है। इसलिए अगर इसमें देरी उचित नहीं है तो जल्दबाजी भी सही नहीं है। इस मामले से जुड़े संवैधानिक मूल्य सुप्रीम कोर्ट के हाथ में हैं और कोर्ट न्यायिक विवेक के सहारे। आशा की जानी चाहिए कि जो भी निर्णय आएगा उसे जनता सिर माथे पर रखेगी।

Date: 11-01-19

ग्रीन क्लाइमेट फंड जलवायु परिवर्तन से निपटने में नई शुरुआत

डॉ. सीमा जावेद, (पर्यावरणविद और संचार रणनीतिकार)

वर्ष 2019 के आगाज़ के साथ हम जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए एकजुट होकर नए युग में प्रवेश कर रहे हैं। दुनिया के देश नीतिगत विकल्पों, अभिनव प्रौद्योगिकीय कदमों और प्रदूषणकारी तत्वों के उत्सर्जन में कमी लाने को तैयार हो गया है। इसके अलावा पर्यावरण अनुकूल अर्थव्यवस्थाएं बनाने में मददगार सर्वश्रेष्ठ पद्धतियों की ओर मिलकर कदम बढ़ा रहे हैं। इससे पहले दिसम्बर 2018 में पोलैंड के केटोवाइस में आयोजित संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन महासम्मेलन में ऐतिहासिक पेरिस जलवायु परिवर्तन समझौते को लागू करने के लिए लगभग 200 देशों के बीच सहमति बनी। इसके अनुसार ग्लोबल वार्मिंग को दो डिग्री सेल्सियस के प्री-इंडस्ट्रियल स्तर से नीचे रखा जाना है।

जहां तक भारत का सवाल है 2030 तक उसने 2005 के ग्रीन हाउस गैसों के स्तरों से उत्सर्जन की तीव्रता को 35 फीसदी कम करने और अपनी अक्षय ऊर्जा क्षमता का विस्तार करने का संकल्प पहले ही व्यक्त किया है। भारत ने अगले दस वर्ष में अपनी स्थापित विद्युत क्षमता का 56.5 फीसदी भाग अक्षय ऊर्जा से पूरा करने का लक्ष्य तय किया है। लेकिन जब विकासशील देश अपने विकास के शैशव काल में थे तब विकसित देशों ने अत्यधिक उत्सर्जन करके जलवायु परिवर्तन के संकट को दावत दी। इसीलिए अब तक जलवायु परिवर्तन की चुनौती से निपटने के लिए भारत-चीन जैसे विकासशील देश वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता के लिए विकसित देशों से ग्रीन क्लाइमेट फंड (जीसीएफ) की मांग करते आ रहे हैं।

इस समझौते के तहत लक्ष्य प्राप्ति के लिए अमीर देशों द्वारा 2020-2025 तक 100 अरब डॉलर की राशि भुगतान करने का प्रावधान है। पहली बार कई विकसित देशों ने विकासशील देशों को वित्तीय सहायता का वचन दिया है। यह ग्रीन क्लाइमेट फंड की पहली औपचारिक पूर्ति की दिशा में महत्वपूर्ण सकारात्मक संकेत है, जर्मनी और नार्वे ने घोषणा की है कि वे अपने योगदान को दोगुना कर देंगे। जीसीएफ अनुकूलन कोष में कुल 12.9 करोड़ अमेरिकी डॉलर प्राप्त हुए। इस मौके पर विश्व बैंक ने 2021-2025 की अवधि के लिए 200 अरब डॉलर देने का संकल्प किया। विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि पेरिस जलवायु परिवर्तन समझौते का लक्ष्य हासिल होने से सिर्फ वायु प्रदूषण में कमी आने से दुनिया भर में 2050 तक 10 लाख लोगों की जान बच सकती है। अल्प कार्बन ऊर्जा स्रोतों को अपनाने से न सिर्फ वायु की गुणवत्ता में सुधार होगा बल्कि स्वास्थ्य संबंधी त्वरित फायदे के अतिरिक्त अवसर मिलेंगे। विशेषज्ञों के अनुमान से जो संकेत मिल रहे हैं, उससे जलवायु संबंधी कार्यों से जो स्वास्थ्य संबंधी लाभ होगा उसका मूल्य वैश्विक स्तर पर राहत संबंधी नीतियों की लागत का दोगुना होगा। ऐसे में विकसित देशों द्वारा जिम्मेदारी निभाने के लिए उठाए गए इस कदम से नए साल में जलवायु परिवर्तन की चुनौती से निपटने की राह खुली है और एक नए युग का आगाज़ हुआ है।

Date: 11-01-19

उदारवादी शिक्षा से ही मजबूत होगा लोकतंत्र

सबको समायोजित करने और सामाजिक व सांस्कृतिक विरोधाभास मिटाने वाले मध्यमार्ग का निर्माण

गुरचरण दास, (स्तंभकार और लेखक)



चुनावों की एक और शृंखला आकर चली गई, अब आम चुनाव की आहट है। किसी सर्जरी की तरह चुनाव नेताओं के दिमाग से सारे विचार निकालकर उनका फोकस आर्थिक व शासन संबंधी सुधारों के कठिन काम को भुलाकर लोकलुभावन कदमों व खैरात बांटने पर केंद्रित कर देते हैं। नतीजों ने दिखाया कि भारतीय स्वभाव से शक्की हैं और अपने नेताओं को बदलने में झिझकते नहीं। 2014 की विशाल निश्चितताओं की जगह अब 2019 के महान संदेह ने ले ली है। प्राचीन काल से ही भारतीय मिज़ाज को अनिश्चितता से कोई

दिक्कत नहीं रही है। इस मिज़ाज का उद्गम ऋग्वेद के ख्यात नासदीय सूक्त में ब्रह्मांड की उत्पत्ति पर दुविधा में है, जिसमें 'नेति नेति' (यह नहीं, वह भी नहीं) की संदेहवादी अद्वैत पद्धति अपनाई गई। प्रश्न उठाने का हमारा मिज़ाज नागरिकता और लोकतंत्र निर्मित करने में एक ताकत है।

दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा व्यवस्था प्रश्न पूछने की इस प्रवृत्ति को पोषित करने की बजाय रटने की पद्धति के माध्यम से इसे खत्म करती है। टेक्नोलॉजी, इंजीनियरिंग और 'उपयोगी विषयों' ने जिज्ञासा को प्रोत्साहित करने वाली पुरानी शैली की उदार शिक्षा की जगह ले ली है। कुछ श्रेष्ठ, निजी उदार कला व विज्ञान संस्थान जैसे अशोका, क्रिया और अहमदाबाद यूनिवर्सिटी में ह्यूमैनिटीज इनिशिएटिव भविष्य की कुछ उम्मीद जगाते हैं। जब दुनियाभर में 'लिबरल' (उदार) शब्द बदनाम कर दिया गया है, यह याद रखना उचित होगा कि 'लिबरल' की जड़ें 'लिबर्टी' (स्वतंत्रता) में हैं। उदार शिक्षा किसी विषय विशेष में महारत की बजाय सीखने की पद्धति है। यह तर्क करना सिखाती है और व्यक्ति को खुद का आकलन करने का आत्मविश्वास देती है। उपनिषद की तरह यह भी प्रश्न पूछने पर निर्भर है। इसमें मूल पाठ को पढ़कर समूह में उस पर प्रश्न पूछना शामिल है। यह किसी छात्र के दिमाग में तथ्य उड़ेलने के एकदम विपरीत है।

उदार शिक्षा एक ऐसे मुक्त मानव-मात्र के लिए उचित है, जिसमें खुद पर शासन करने और सामूहिक स्व-शासन में भागीदार होने की क्षमता हो। चुनाव के वक्त यह योग्यता किसी धोखेबाज उम्मीदवार और समझदार व गंभीर प्रत्याशी के बीच फर्क करने में मददगार होती है। इस तरह यह नागरिकता निर्माण करने में मददगार है। हाल के चुनाव में यह कृषि ऋण माफी के विनाशक विचार का भंडाफोड़ कर देती, जो डिफाल्टर को पुरस्कृत करती है और ईमानदार किसानों को सजा देती है। राज्यों को दिवालिया करके वास्तविक कृषि सुधार के लिए कोई पैसा नहीं छोड़ती, वह अलग।

जब हम किसी चीज का अध्ययन सिर्फ उस चीज को जानने के लिए करते हैं तो इससे बचपन की हमारी मूल जिज्ञासा को मजबूती मिलती है और हमारी सभ्यता के प्रचीन संदेहवादी तेवर निर्मित करती है। उदारवादी शिक्षा से हमारे राजनीतिक विमर्श का स्तर बढ़ाने में भी मदद मिल सकती है, जो हाल के वर्षों में बहुत नीचे गिर गया है। इसके लिए

सभी राजनीतिक दल जिम्मेदार हैं। राहुल गांधी ने रफाल सौदे को लेकर लगातार 'चौकीदार चोर हैं' कहकर इसमें योगदान दिया। उन्होंने अपने उन पदाधिकारियों की भी निंदा नहीं की, जिन्होंने मोदी की मां की उम्र और पिता को लेकर घिनौने जातिगत आक्षेप लगाए। हालांकि, उन्हें श्रेय है कि एक पूर्व मंत्री द्वारा मोदी की पेशागत जाति का अपमानजनक उल्लेख करने पर उन्होंने उस नेता की ओर से माफी मांगी। पूर्व में सोनिया गांधी द्वारा 'मौत का सौदागर' का उल्लेख उतना ही असभ्य कहा जाएगा। भाजपा कोई बेहतर नहीं है। मोदी एक राजनीतिक वंश के बारे में असभ्य भाषा इस्तेमाल करने के दोषी हैं। गुजरात के मंत्री ने वर्गोस कुरियन पर अमूल के फंड्स ईसाई मिशनरियों को देने का झूठा आरोप लगाया। मोदी ने भारत को दुनिया का सबसे बड़ा दुग्ध उत्पादक देश बनाने वाले व्यक्ति पर लगाए आक्षेप की निंदा नहीं की। सारे दल खासतौर पर 'आप' और शिवसेना बार-बार विपक्षियों को बुरा-भला कहती हैं जैसे 'खिलजी की संतान'।

उदारवादी शिक्षा समुदाय में सम्मानजनक विमर्श व वार्तालाप की आदत निर्मित करने में फायदेमंद होती है। विरोधियों की जातीय पहचान पर अपमानजनक प्रहार पर उत्तारु होने की बजाय वह जायज जवाब खोजने के प्रति समर्पित होती है। यह राजनीति में धुर दक्षिण व धुर वाम विचारों की बजाय मध्यमार्ग की ओर ले जाती है? राजनीतिक मध्यमार्ग सबको समायोजित करता है, सामाजिक व सांस्कृतिक विरोधाभासों को मिटाता है तथा औसत मतदाताओं, खासतौर पर अल्पसंख्यकों को आकर्षित करता है। इसलिए भारत में स्वतंत्रता के बाद ज्यादातर चुनाव मध्यमार्गी प्रत्याशियों ने ही जीते। यहां तक कि 2014 की मोदी लहर भी मोदी द्वारा विकास व जॉब का मध्यमार्गी वादा करने का नतीजा था, जिसने महत्वाकांक्षी युवा मतदाताओं को आकर्षित किया। यह वादा पूरा नहीं हुआ, यह बिल्कुल अलग बात है और मोदी आज चितित नेता हैं।

आखिर में शिक्षा को उदारवादी ढंग से लेने से हम बेहतर मानव बनते हैं। यह हमें जॉब पाने और आजीविका कमाने की मांग से मुक्त करके अस्तित्वगत सवाल पर गौर करने की आज़ादी देती है कि हम कौन हैं और हम यहां क्यों हैं। इससे हमारा ध्यान खुद से हटकर दुनिया में हमारे स्थान पर आ जाता है। चरित्र बनाने के लिए 'खुद को भूल जाना' हमेशा अच्छा रहा है। जब इसे क्रिया और अनुभव से जोड़ा जाता है तो यह विवेक-बुद्धि (प्रोनेसिस) की ओर ले जाती है। जैसा अरस्तू ने कहा था- उचित व्यक्ति के साथ उचित समय पर, उचित तरीके से और उचित कारण से उचित व्यवहार करना ही विवेक बुद्धि है। लेकिन, कैसे कोई गरीब या मध्यम वर्गीय भारतीय परिवार अपने बच्चों को जॉब के लिए तैयार न करने का जोखिम ले सकता है? निश्चित ही चार वर्षीय अंडर ग्रेजुएट अमेरिकन लिबरल एजुकेशन ऐसी लगज़री है, जो ज्यादातर भारतीयों के बस के बाहर की बात है। वास्तव में ऐसा संभव है यदि आप उदारवादी शिक्षा को सामग्री की बजाय सीखने की पद्धति मानें। इसकी शुरुआत प्राथमिक विद्यालय में होना चाहिए और पोस्ट ग्रेजुएशन तक चलनी चाहिए। उदारवादी शिक्षा कोई उद्देश्य नहीं बल्कि युवाओं को समाज के विचारपूर्ण सदस्य बनाने का जरिया है। यह आजीविका कमाने या अच्छे नागरिक बनने से अलग नहीं है। यह तो हमें सिर्फ यह याद दिलाती है कि जीवन में उपभोग व उत्पादन करने से भी बहुत कुछ है।

नईदुनिया

Date: 11-01-19

असंवैधानिक नहीं आर्थिक आरक्षण

ना भूलें कि नरसिंह राव सरकार 'कार्यालयी ज्ञापन' के जरिए आर्थिक आरक्षण लाई थी, वहीं मोदी सरकार ने संविधान संशोधन की राह चुनी।

निरंजन कुमार, (लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक एवं स्तंभकार हैं)

अपनी मशहूर पुस्तक 'पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन में बाबासाहब भीमराव आंबेडकर एक जगह लिखते हैं कि 'मैन लव प्रॉपर्टी मोर दैन लिबर्टी'। इस कथन का सरल अर्थ तो यह है कि मनुष्य मुक्ति से अधिक धन से प्रेम करता है, लेकिन इसका गूढ़ अर्थ यह है कि मुक्ति के मुकाबले लोगों में आर्थिक सुरक्षा की चाहत कहीं से भी कमतर नहीं है। आधुनिक काल में यह आर्थिक सुरक्षा और भी अधिक अहम हो जाती है, क्योंकि आर्थिक पराधीनता हर पराधीनता की जननी है।

डॉ. आंबेडकर के दर्शन के आलोक में मोदी सरकार द्वारा आर्थिक रूप से कमजोर लोगों के लिए सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में दस प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान का औचित्य सिद्ध होता है। हालांकि आर्थिक आरक्षण की इस पहल को लेकर देश में विवाद छिड़ गया है। कुछ इसे आरक्षण-जुमला कह रहे हैं तो कुछ संविधान-विरोधी बताते हुए इसके सर्वोच्च न्यायालय से खारिज हो जाने का अंदेशा जता रहे हैं। कुछ अन्य आरक्षण के आर्थिक आधार पर ही प्रश्न उठा रहे हैं तो कुछ इसे दलित-पिछड़ा विरोधी बताने में लगे हुए हैं। कई राजनीतिक पार्टियां इसे चुनावी स्टंट मान रही हैं। हालांकि लोकसभा और राज्यसभा में अधिकांश राजनीतिक दलों ने आर्थिक आरक्षण संबंधी विधेयक का समर्थन ही किया।

सर्वप्रथम यह देखते हैं कि क्या संविधान में आर्थिक आधार पर आरक्षण का प्रावधान है? इसका उत्तर जानने के पहले यह जानना उपयुक्त होगा कि संविधान में आरक्षण का आधार क्या है? वर्तमान आरक्षण का आधार संविधान के अनुच्छेद 15(4) और अनुच्छेद 16(4) हैं। अनुच्छेद 16(4) के अनुसार राज्य नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग के लिए नियुक्तियों-पदों में आरक्षण के लिए विशेष प्रावधान कर सकता है। यहां पर दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह कि अनुच्छेद 16(4) मूल संविधान में ही आरंभ से है। दूसरी, आरक्षण का यह प्रावधान पिछड़े वर्ग के लिए है। पिछड़ेपन का यह आधार सामाजिक हो सकता है, शैक्षणिक हो सकता है और आर्थिक भी हो सकता है।

विरोधियों द्वारा तर्क दिया जा रहा है कि संविधान के अनुच्छेद 15(4) में तो सिर्फ सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े तबकों के लिए ही आरक्षण का प्रावधान है, लेकिन यहां भी दो तथ्य जानने की जरूरत है। पहला, अनुच्छेद 15(4) मूल संविधान में आरंभ से नहीं है। इसे बाद में प्रथम संविधान संशोधन के रूप में वर्ष 1951 में जोड़ा गया था, जब पंडित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री और डॉ. आंबेडकर कानून मंत्री थे। दूसरा, चंपकम बनाम मद्रास राज्य केस (1951) में सुप्रीम कोर्ट के फैसले को उलटने के लिए यह संविधान-संशोधन किया गया था।

उपरोक्त विश्लेषण से भी कई निष्कर्ष निकलते हैं। पहला, आरक्षण किसी भी पिछड़े वर्ग के लिए हो सकता है, चाहे वह सामाजिक-शैक्षणिक दृष्टि से हो या आर्थिक रूप से। दूसरा, जिस तरह मूल संविधान में संशोधन कर अनुच्छेद 15(4)

जोड़ते हुए सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े तबकों के लिए विशेष प्रावधान किया गया, उसी तरह एक और संशोधन कर आर्थिक रूप से पिछड़ों के लिए भी विशेष प्रावधान किया जा सकता है। तीसरा, केंद्र सरकार चाहे तो सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों को संविधान संशोधन के माध्यम से पलट सकती है। इस आलोक में आर्थिक रूप से पिछड़ों के लिए आरक्षण देने का निर्णय कहीं से भी असंवैधानिक नहीं है।

यह आरोप भी गलत है कि 'आर्थिक आरक्षण दलित-पिछड़े तबकों के हितों पर कुठाराघात है। जबकि सरकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रस्तावित दस प्रतिशत आरक्षण दलित-पिछड़ों के मौजूदा 49.5 प्रतिशत आरक्षण के अतिरिक्त होगा। अर्थात इन तबकों के आरक्षण कोटा पर कोई आंच नहीं आएगी। कुछ लोगों के लिए प्रस्तावित आरक्षण एक जुमलेबाजी और 2019 का चुनावी लॉलीपॉप भर है। इनके अनुसार पहले भी आर्थिक आधार पर आरक्षण दिया गया, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने खारिज कर दिया। ये लोग पीवी नरसिंह राव सरकार द्वारा दिए गए दस प्रतिशत 'आर्थिक आरक्षण के आदेश के खारिज होने का हवाला दे रहे हैं, लेकिन हमेशा अर्द्धसत्य बोलने वाले ये बुद्धिजीवी यह नहीं बताते कि पीवी नरसिंह राव सरकार द्वारा उक्त आरक्षण एक 'कार्यालयी ज्ञापन के माध्यम से लाया गया था, किसी संविधान संशोधन द्वारा नहीं। तब सुप्रीम कोर्ट ने संविधान में आर्थिक आधार के न होने पर इसे अमान्य कर दिया था, लेकिन मोदी सरकार संविधान में संशोधन करके आर्थिक आधार का प्रावधान करते हुए यह आरक्षण ला रही है, ताकि कोर्ट में भी यह न्यायिक समीक्षा का सामना कर सके। यहां यह ध्यान रहे कि वर्ष 2008 में केरल की कम्युनिस्ट सरकार द्वारा जब उच्च शिक्षा संस्थानों में दस प्रतिशत का 'आर्थिक आरक्षण दिया गया तो उसे चुनौती दी गई, लेकिन केरल उच्च न्यायालय ने इस आरक्षण को सही ठहराया। अब सुप्रीम कोर्ट में इस पर अपील लंबित है। स्पष्ट है कि यह कहना ठीक नहीं कि वर्तमान कवायद महज हवाबाजी या जुमलेबाजी भर है।

आर्थिक आरक्षण पर एक अन्य हवाला यह दिया जा रहा है कि इंदिरा साहनी केस (1992) में आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत की गई है। यह पूरी तरह सही नहीं है। सरकार के अनुसार सुप्रीम कोर्ट ने यह सीमा-रेखा एससी, एसटी और अन्य पिछड़ा वर्गों के कुल आरक्षण के लिए खींची थी। इस फैसले में कोर्ट ने यह भी कहा था कि इस विविधता भरे देश में विशिष्ट परिस्थितियों में 50 प्रतिशत की इस सीलिंग से छूट ली जा सकती है। अर्थात सामान्य वर्ग के आर्थिक रूप से कमजोर तबकों को मुख्यधारा में लाने में 50 प्रतिशत की हदबंदी लागू नहीं होती है।

कई नेताओं और बुद्धिजीवियों की ओर से यह भी कहा जा रहा है कि आर्थिक आरक्षण आगामी आम चुनाव के पहले की गई एक राजनीतिक 'सर्जिकल स्ट्राइक है। उनका कहना है कि भाजपा की यह कवायद 2109 के आम चुनाव को ध्यान में रखकर की गई है, लेकिन यहां यह समझने की जरूरत है कि हरेक राजनीतिक दल अपनी नीतियां बनाने या फैसले लेते वक्त यह जरूर विचार करता है कि इससे उसे क्या राजनीतिक अथवा चुनावी नफा-नुकसान हो सकता है। यह बात कांग्रेस, सपा, बसपा, कम्युनिस्ट और अन्य सभी पार्टियों पर लागू होती है और भाजपा भी अपवाद नहीं है। संविधान-कानून के दायरे में लिए गए किसी निर्णय से मोदी सरकार चुनावों में लाभ उठाना चाहती है तो यह कोई नाजायज बात नहीं है। आर्थिक आरक्षण के संदर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि यह सभी मजहब के आर्थिक रूप से कमजोर लोगों को उपलब्ध होगा, वे चाहे कथित उच्च जाति के हिंदू हों अथवा मुसलमान या ईसाई या अन्य समुदायों के लोग। इससे एक ओर इन समुदायों के कमजोर तबकों को मुख्यधारा में लाने में मदद मिलेगी तो दूसरी ओर सभी पंथों के बीच सामाजिक समरसता का भाव पैदा होगा। इसका एक फायदा यह भी होगा कि सामान्य या अनारक्षित वर्ग के अनेक लोगों में अब तक आरक्षण पा रहे तबकों के प्रति जो असंतोष, ईर्ष्या और आक्रोश का भाव है, वह कम होगा।

Date: 10-01-19



ऐतिहासिक भूल सुधार

संपादकीय

वर्ष 2016 से चल रही जद्दोजहद के बाद केंद्र सरकार द्वारा तैयार नागरिकता संशोधन विधेयक लोक सभा से पास हो गया। यह विधेयक 1955 में बनाए गए नागरिकता कानून में संशोधन करने को अभिप्रेरित है। इसके तहत बांग्लादेश, पाकिस्तान और अफगानिस्तान में रहने वाले गैर-मुस्लिमों यानी हिन्दू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई समुदाय के लोगों को भारत की नागरिकता प्राप्त करना आसान हो जाएगा। वे छह साल में ही भारत की नागरिकता प्राप्त करने के लिए पात्र हो जाएंगे। इस श्रेणी में आने वाले ऐसे हजारों-लाखों लोग भारत के विभिन्न प्रांतों में अभिशप्त जिंदगी जीने को मजबूर हैं।

विभाजन के समय भारत की तरह पाकिस्तान और बांग्लादेश में अल्पसंख्यकों के जान-माल की सुरक्षा की गारंटी दे दी गई होती तो यह नौबत न आती। लेकिन इन पड़ोसी देशों में जिस प्रकार गैर-मुस्लिमों का उत्पीड़न किया जाता रहा, उसका नतीजा हुआ कि वहां से भारी संख्या में उनका भारत में पलायन हुआ। स्पष्ट है कि यह पलायन आर्थिक नहीं, धार्मिक कारणों से हुआ। ऐसे लोग न केवल असम, बल्कि राजस्थान, गुजरात, प. बंगाल, मध्य प्रदेश, दिल्ली जैसी जगहों में भी रह रहे हैं। लेकिन इसका विरोध मूलतः असम में हो रहा है, जबकि इस विधेयक का संबंध केवल असम से ही नहीं है, बल्कि पूरे देश से है। केंद्र सरकार असम समझौते के मद्देनजर वहां के मूल निवासियों के राजनीतिक-सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए कई कदम उठा रही है।

इसके बाद वहां विरोध का कोई औचित्य नहीं था। इसके बावजूद विरोध हो रहा है, तो यही कहा जा सकता है कि वह नासमझी भरा है, जो उनके दीर्घकालिक हितों की अनदेखी करने वाला है। असम गण परिषद ने असम में भाजपा के नेतृत्व में चलने वाली सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया है, और कई संगठन विधेयक के विरोध में सड़क पर उतर चुके हैं। यही नहीं, लोक सभा में कांग्रेस, तृणमूल कांग्रेस, एआईएमआईएम जैसी पार्टियां विरोध में खड़ी हो गईं। इनसे उम्मीद थी कि ये पार्टियां इतिहास की भूल को दुरु स्त करने में सहायक होंगी लेकिन इनका दृष्टिकोण निराशाजनक रहा। इनकी नजर में यह राष्ट्र की एकता एवं अखंडता के खिलाफ है। ऐसे में इन पार्टियों को देश विभाजन से उपजे उन सवाल का भी जवाब देना होगा, जिनका इंतजार देश को आज भी है।

Date: 10-01-19

सही फैसला

संपादकीय

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा आलोक वर्मा को निदेशक के तौर पर बहाली का राजनीतिक अर्थ जो भी लगाया जाए लेकिन यह एक संस्था का सम्मान बचाने का फैसला ज्यादा है। अदालत ने कोई कड़ी टिप्पणी नहीं की है, लेकिन सीबीआई द्वारा वर्मा को उनके अधिकारों, कर्तव्यों आदि से वंचित करने को दुर्भाग्यपूर्ण अवश्य कहा है। वास्तव में वह निर्णय दुर्भाग्यपूर्ण था। जिस तरह सीबीआई मामलों की जांच और कानूनी कार्रवाई की जगह आपसी संघर्ष में उलझ गया था, उससे देश अचंभित था। हालांकि सरकार ने वर्मा या अस्थाना को पद से हटाए जाने की जगह जांच होने तक कामकाज से मुक्त किया था।

उच्चतम न्यायालय ने भी न तो उनके खिलाफ होने वाली जांच पर रोक लगाई है, न वर्मा को उनके अधिकार वापस किए हैं। उन पर लगे आरोपों पर भी टिप्पणी नहीं की है। वे केवल रु टिन कामकाज देख सकेंगे। न कोई पहल करेंगे और न नीतिगत निर्णय लेंगे। न्यायालय ने वर्मा पर कार्रवाई या उनके कामकाज संबंधी निर्णय उच्चाधिकार समिति पर छोड़ दिया है, जिसमें प्रधानमंत्री, मुख्य न्यायाधीश एवं विपक्ष के नेता शामिल हैं। अर्थ साफ है, न्यायालय चाहता है कि जो भी कदम उठाया जाए उसमें निर्धारित प्रक्रिया का पालन हो। दरअसल, उच्च न्यायालय ने ही पांच वर्ष पूर्व के अपने फैसले में सीबीआई की संस्था के तौर पर विसनीयता एवं स्वायत्तता कायम रखने के उद्देश्य से कुछ प्रावधान तय किए थे। इसी में ऐसे निर्णय करने के लिए उच्चाधिकार समिति को अधिकृत किया गया था। हालांकि निदेशक और विशेष निदेशक के बीच सीबीआई मुख्यालय लड़ाई का अड़्डा बन जाएगा, इसकी कल्पना शायद उच्चतम न्यायालय ने भी नहीं की होगी।

इसलिए उसने ऐसी टिप्पणियां की हैं, जिनसे न सीबीआई के बारे में एकदम नकारात्मक धारणा बने, न सरकार को झेंपना पड़े और न सक्रियतावादियों को झंडा उठाने का अवसर मिले। न्यायालय ने एनजीओ कॉमन कॉज आदि की वर्तमान कार्यकारी निदेशक नागेर राव के निर्णयों के खिलाफ अपीलों को भी स्वीकार नहीं किया है। न्यायालय की यही भूमिका यथेष्ट थी। किंतु मूल सवाल सीबीआई को दुरुस्त करने, उसकी विसनीयता को कायम करने की है। इस प्रकरण ने इतना साफ कर दिया है कि यह शीर्ष जांच एजेंसी अभी भी कई ऐसी बीमारियों की शिकार है, जो इसे स्वतंत्र होकर कुशल और ईमानदार भूमिका निभाने में बाधा हैं। तात्कालिक समाधान जो भी निकले लेकिन दूरगामी दृष्टि से सीबीआई के चरित्र एवं व्यवहार में व्यापक बदलाव की आवश्यकता है।

शेख हसीना से बड़ी उम्मीदें

संपादकीय

चौथी बार बांग्लादेश की प्रधानमंत्री के तौर पर अपने सफर का आगाज कर रहीं शेख हसीना को हम बधाई देते हैं। इस कार्यकाल को मिलाकर दो दशकों तक सत्ता में रहना एक बड़ी उपलब्धि है; और इस स्थिति में प्रधानमंत्री की जिम्मेदारियां और चुनौतियां भी काफी बढ़ जाती हैं। अवामी लीग के लगातार सत्ता में बने होने से उसके आगे एक बड़ी चुनौती यह खड़ी हो जाती है कि अपने पिछले कार्यकाल में उसने जिन कामों की शुरुआत की थी, उनको अब मुकम्मल करे। पिछली हुकूमत ने कई मेगा प्रोजेक्ट की शुरुआत की थी, उन्हें अब वक्त पर पूरा करने को तवज्जो मिलनी चाहिए। ऐसा करना अवामी लीग के घोषणापत्र में दर्ज 'सतत विकास' के अनुरूप ही होगा। दरअसल, कई पुरानी परियोजनाएं नौकरशाही की लेटलतीफी और निर्माण लागत बढ़ने के कारण अवरोध का शिकार बन गई हैं, ऐसी योजनाओं को पूरा करने के प्रति इस कार्यकाल में गंभीर पहल होनी चाहिए।

इसी तरह, लगभग तमाम सरकारी महकमे भ्रष्टाचार से बुरी तरह पस्त हैं, इससे पूरी सख्ती से लड़ने की जरूरत है, क्योंकि भ्रष्टाचार विकास को तो बाधित करता ही है, इससे वक्त और धन की इस कदर बर्बादी होती है कि उसकी भरपाई नहीं हो पाती। बांग्लादेश को दक्षिण एशिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में गिना जा रहा है। ऐसे में सरकार पर यह बड़ी जिम्मेदारी आ गई है कि वह इसे नई ऊंचाई पर ले जाए। इसके लिए बांग्लादेश में कारोबार के मुफ़ीद पेशेवर माहौल बनाने की जरूरत है। देश को एक स्थिर आर्थिक विकास देने के लिए अवामी लीग सरकार के पिछले कार्यकाल की सराहना होती रही है, लेकिन अब उसके सामने आर्थिक विषमता में कमी लाने की चुनौती बहुत बड़ी होगी। निस्संदेह, नई सरकार का फोकस विकास पर रहेगा, लेकिन उसे लोगों के हक-हुकूक की हिफाजत को लेकर भी जागरूक होना चाहिए। अवामी लीग सरकार के पिछले कार्यकाल में मानवाधिकारों के उल्लंघन की घटनाओं ने दुनिया भर में हमारी छवि को नुकसान पहुंचाया था। इसलिए इस बार शेख हसीना से लोगों की अपेक्षाएं बढ़ गई हैं।

A House In Disorder

Parliamentary disruption has become the norm, this Lok Sabha mirrors the decline

Chakshu Roy, [The writer is head of outreach PRS Legislative Research.]

The penultimate session of the 16th Lok Sabha started on a sombre note. Members stood in respectful silence in memory of former prime minister Atal Bihari Vajpayee, former Speaker Somnath Chatterjee and four other sitting MPs who passed away late last year. It was one of those fleeting moments in which

the House witnessed respect for the rules. The majority of the session was fraught with disruptions. The regular disruption of parliamentary proceedings and inadequate debates on bills are the two things that have stood out in this winter session and during the term of this Lok Sabha. Forty-three bills were on the Parliament's legislative agenda for discussion and passing over 20 days of the session. But unplanned leaves (three days) and clockwork disruptions left the Parliament with little time to deliberate.

Disruption of parliamentary proceedings is not a new phenomenon. MPs have disrupted House proceedings from the early days of Parliament. But disruption which was an exception earlier, seems to have become the new normal. In the last decade, MPs have raised slogans, snatched papers from ministers and used pepper spray in the House. During this session, both houses witnessed coordinated sloganeering and display of placards. In the Lok Sabha, MPs threw paper planes and a protesting MP, dressed in costume as a former chief minister, and played music to disrupt the house. During the session, Lok Sabha lost about 60 per cent and Rajya Sabha about 80 per cent of its scheduled time.

However, what was different during this session was the firmness of the presiding officers. Disrupting MPs were warned by the Chair and then suspended from the proceedings of Parliament. The presiding officers of both Houses also initiated steps to change the rules of procedure of the Parliament to better deal with disruptions.

Former president K R Narayanan, who also chaired Rajya Sabha from 1992-97, explained the difficulty involved in dealing with disruptions. He said, "In most cases, disorders in the House arise out of a sense of frustration felt by members due to lack of opportunities to make his point, or clear his chest of grievances of the people that move him or out of the heat of the moment. They are perhaps easier to deal with. What is more difficult to tackle is planned parliamentary offences and deliberate disturbances for publicity or for political motives."

Disruptions also derailed the legislative agenda. Of the 10 Bills passed by Lok Sabha till January 7, nine were discussed for less than an hour-and-a-half. These included bills like Consumer Protection, Surrogacy Regulation and Transgender Rights Bill. The Triple Talaq Bill was discussed for approximately five hours. Many bills were debated while disruptions continued to take place inside the House, and a few were passed in the din. In the Rajya Sabha, disruptions leading to adjournment resulted in only one bill being passed by it till January 8. The problem of inadequate legislative deliberation was compounded in the session by non-reference of bills to parliamentary committees for detailed scrutiny. Of the 11 bills introduced in the session till the January 7, only one bill so far has been referred to a parliamentary committee. In the 16th Lok Sabha, fewer Bills (26 per cent) are being referred to Parliamentary Committees as compared to the 15th Lok Sabha (71 per cent) and the 14th Lok Sabha (60 per cent). Disruptions also did not leave any time for discussions on any national issues in the Parliament. Other than debate on legislation, the only other debate in the session was on the Rafael defence deal for approximately six hours.

Parliamentary debates are recorded for posterity. They offer an insight into the thinking of our elected representatives. Disruptions ensured that no such insights are available to future generations. An inscription on top of the gate of the inner lobby of the Lok Sabha reads: "Truth has been said to be the highest duty." When we look at the work done by the Parliament in this session and during the 16th Lok Sabha, our MPs might have fallen short of their constitutional duty.
